

# दर्शनशास्त्र

## दर्शनशास्त्र का स्वरूप –

दर्शनशास्त्र प्राकृतिक कौतूहल तथा उस कौतूहल से उत्पन्न जिज्ञासाओं से उत्पन्न शास्त्र है, जिसका मूल उद्देश्य विज्ञान जगत के समस्त पक्षों को खोजकर उनका वास्तविक अध्ययन करना है।

दर्शनशास्त्र शब्द दर्शन और शास्त्र इन दो शब्दों से मिलकर बना है, जहां शास्त्र से तात्पर्य “शिष्यते अनेन इति शास्त्रम्” अर्थात् विषय का गंभीर निश्चित तथा अनिवार्यता से अध्ययन है।

वहीं दर्शन का तात्पर्य देखने अथवा के माध्यम से देखने से होता है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र किसी वस्तु(विषय) के अध्ययन की वह प्रवृद्धि है जो विभिन्न दृष्टिकोणों से विषय का सूक्ष्मता से अवलोकन कर उसकी वास्तविकता या मूल को जानने का प्रयास करती है।

Philosophy शब्द 'फिलोप' तथा 'सोफिया' शब्द से मिलकर बना है जहां sophia का अर्थ ज्ञान तथा चीलसवे का अर्थ प्रेम या अनुराग होता है। अतः कह सकते हैं कि वह विषय जहां वस्तु का अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसे Philosophy कहते हैं।

## परिभाषाएँ –

**प्लेटो** – दर्शन का उद्देश्य वस्तुओं के मूल स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना होता है।

**अरस्तु** – दर्शन का उद्देश्य परम तत्व के अन्वेषण का अध्ययन करना होता है।

**मैकडोनल** – दर्शन जीवन परमसत्ता के समग्र सत्य का खोज करता है।

**परिभाषा**— दर्शनशास्त्र एक समन्वित दृष्टिकोण है जो कि तार्किक विश्लेषण कर जीवन और जगत की वास्तविकता का अध्ययन करना है।

## दर्शनशास्त्र का स्वरूप—

1. ज्ञान मीमांसा
2. तत्व मीमांसा
3. ईश्वर मीमांसा
4. नीति मीमांसा

## संस्कार व्युत्पत्ति =

आवश्यकता झमूल्य झप्रतिमान झपरंपरा झप्रथा झसंस्कार

**1. ज्ञान मीमांसा** – ज्ञान मीमांसा को दर्शनशास्त्र का प्रारंभ माना जाता है जिसका तात्पर्य होता है ज्ञान का विज्ञान।

ज्ञान मीमांसा वस्तुतः ज्ञान के उद्गम उसके स्वरूप और उसकी प्रामाणिक तार्किक विवेचन को कहते हैं। दर्शनशास्त्र का यह अभिन्न अंग है। जिस प्रकार दर्शन विश्व को समग्रता से देखने का प्रयास है, उसी प्रकार ज्ञान मीमांसा दर्शन की समग्र समीक्षा होती है।

ज्ञान मीमांसा के अंतर्गत ज्ञान का स्वरूप ज्ञान का लक्ष्य, ज्ञानता तथा संबंध ज्ञान की प्रणाली, सीमा, संभावना तथा प्रामाणिकता का विश्लेषण किया जाता है।

**2. तत्व मीमांसा** – तत्व मीमांसा संपूर्ण दर्शन परमसत्ता का तार्किक अध्ययन करता है। इस परमसत्ता को ही तत्व कहते हैं। तत्व मीमांसा का तात्पर्य यह विश्लेषण करना होता है कि भौतिक जगत से परे वह मूल तत्व क्या है? उन तत्वों की संख्या कितनी है? तथा उन तत्वों का स्वरूप तथा प्रकृति क्या है?

तत्व मीमांसा के अंतर्गत सृष्टिशास्त्र(cosmology) का अध्ययन तथा सत्ता शास्त्र का अध्ययन एवं विवेचन किया जाता है। इसके अंतर्गत तीन सिद्धान्त आते हैं –

- a) तत्ववाद                      b) द्वितत्ववाद                      c) बहुतत्ववाद

**सत्ताशास्त्र**— सत्ताशास्त्र के अंतर्गत हम परमसत्ता के स्वरूप का अध्ययन करते हैं और यह विचार करते हैं कि सत्ता का स्वरूप जड़ है अथवा प्रत्यय है।

**3. ईश्वर मीमांसा** – जहां एक ओर धर्म ईश्वर का आस्था एवं श्रद्धापूर्वक उल्लेख करता है वहीं दूसरी ओर दर्शन ईश्वर का बौद्धिक एवं तार्किक विवेचन करता है।

– ईश्वर मीमांसा के अंतर्गत यह विचार किया जाता है कि ईश्वर है अथवा नहीं?

– ईश्वर की उत्पत्ति कैसे हुई?

– ईश्वर के होने का प्रयोजन क्या है?

तथा ईश्वर किन प्रतिबंधों के अधीन है अथवा उनकी सत्ता की सीमाएं क्या है?

– ईश्वर मीमांसा के अंतर्गत ही अशुभ के प्रश्न का विवेचन किया जाता है।

**4. नीति मीमांसा** – नीति मीमांसा को पाश्चात्य दर्शन में अधिक महत्व प्राप्त है जिसे प्लेटो के प्रतय्यवाद से प्रारंभ माना जाता है। मोती मीमांसा में 'मूल्य का विचार' किया जाता है जहां मूल्य से तात्पर्य व्यक्ति के एवं समाज के आदर्शात्मक मूल्य से लिया जाता है।

## इसके अंतर्गत

- a) मूल्य क्या हैं?                      b) मूल्य की सत्तात्मक स्थिति                      c) मूल्य के प्रकार तथा परम मूल्य

## जैसे प्रश्नों का विवेचन किया जाता है।

- मूल्य – 1. भौतिक – वस्तु मूल्य  
2. अभौतिक – जीवन मूल्य

## जीवन मूल्य के दो प्रकार–

- a) व्यक्तिगत                      b) सामाजिक

## मूल्य मीमांसा में विचार के आधार पर तीन शास्त्रों की उत्पत्ति हुई –

- a) तर्कशास्त्र                      b) नीतिशास्त्र                      c) सौंदर्यशास्त्र

## दर्शन एवं विज्ञान

दर्शन – समग्र, आगमन, प्रत्येक मान्यता को परखना, वस्तुओं का अध्ययन मुख्यतः अभौतिक।

विज्ञान – विशिष्ट, निगमन, वस्तुओं का अध्ययन मुख्यतः भौतिक।

## दर्शन एवं विज्ञान में समानता–

- a) वस्तु/ जगत  
b) तार्किक विश्लेषण  
c) मानव कल्याण  
d) निश्चित प्रविधि

## दर्शन एवं विज्ञान में पूरक(असमानता)–

- a) वस्तु (भौतिक-विज्ञान) , जगत (अभौतिक-दर्शन)  
b) अध्ययन की पद्धति–                      1) आगमन                      2) निगमन  
c) दर्शन-समस्याएं ढ-—-झ विज्ञान-हल  
d) विज्ञान-भौतिक सुख  
दर्शन – अभौतिक सुख

## दर्शन एवं विज्ञान –

दर्शनशास्त्र को सभी विषयों का मातृविषय (mother of all subjects) कहा जाता है। अतः स्वाभाविक है कि दर्शनशास्त्र का संबंध किसी भी विषय से सहजता से जोड़ा जा सकता है।

किन्हीं दो विषयों के मध्य संबंध का निर्धारण उनके मध्य की समानताओं और भिन्नताओं के आधार पर समझा जा सकता है। यूं तो दर्शन तथा विज्ञान दोनों ही विश्व एवं जीवन का अध्ययन करते हैं। तथा दर्शन को विज्ञानों का विज्ञान कहा जाता है इस अर्थ में दर्शन तथा विज्ञान में समानता प्रतीत होती है किंतु निम्नांकित अर्थों में इनके मध्य अंतर देखा जा सकता है।

- a) विज्ञान जहां विश्व का अध्ययन विशिष्ट दृष्टिकोण से करता है वहीं दर्शन का दृष्टिकोण समग्र होता है।  
b) विज्ञान वस्तु जगत के विषय में 'क्या है'? का विवेचन करता है वहीं दर्शन 'क्यों है'? प्रश्न का समाधानात्मक विवेचन कर वस्तु जगत के उद्देश्य स्पष्ट करता है।  
c) विज्ञान के अध्ययन की पद्धति निगमनात्मक अर्थात् "सामान्य ज्ञात तथ्यों से विशिष्ट की प्राप्ति" होती है वहीं दर्शन आगमनात्मक अर्थात् "विभिन्न विशिष्टीकरण से सामान्य की प्राप्ति" पद्धति का उपयोग करता है।  
d) विज्ञान कुछ पूर्व स्थापित मान्यताओं के आधार पर विवेचन करता है और उन मान्यताओं को स्वयं सत्य मानता है वहीं दर्शन प्रत्येक मान्यता को नये सिरे से विश्लेषित करता है।

## समानताएं–

- a) दर्शन एवं विज्ञान दोनों के ही चिंतन का विषय विश्व तथा जीवन है।  
b) दर्शन एवं विज्ञान दोनों के द्वारा तार्किक एवं वैज्ञानिक विवेचन करते हैं।  
c) दर्शन तथा विज्ञान द्वारा किए गए चिंतन में मूल समानता यह है कि दोनों ही सुनिश्चित सिद्धांतों की स्थापना करते हैं।

## परस्पर पूरक—

- विज्ञान का विषय विश्व एवं जीवन के भौतिक संदर्भों का अध्ययन करना है वहीं दर्शन मानसिक संदर्भों का अध्ययन करता है इस प्रकार दोनों परस्पर पूरक विषयों का अध्ययन करते हैं।
  - जहां एक ओर दर्शन विज्ञान की मान्यताओं का विवेचन कर विषय को अधिक स्पष्ट करता है वहीं विज्ञान दर्शन की मान्यताओं को वैज्ञानिक मानदंडों पर परखकर उसे मजबूत बनाता है।
  - दर्शन द्वारा दी गई परिकल्पनाएं विज्ञान के लिए विषय प्रदान करते हैं।
- जैसे:—** दर्शन द्वारा दिया गया परमाणुवाद आज विज्ञान में अहम स्थान रखता है।
- दर्शन को भी विज्ञान से सहायता प्राप्त हुई है वैज्ञानिक प्रयोगों से दर्शन क्षेत्र में व्याप्त विभिन्न संदेहों को सुलझाने में मदद मिली।
  - इस प्रकार देखा जा सकता है कि दर्शन और विज्ञान के मध्य असमानताएं अपने स्वरूप में मात्रात्मक हैं। वस्तुतः दोनों विषयों के मध्य अंग-अंगी संबंध है और इनका यह पारस्परिक संबंध वैश्विक अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण है।

**संस्कृति** — संस्कृति किसी समाज में उन वैचारिक या अभौतिक प्रत्ययों का समूह है जो उस समाज के अनुकूल व्यक्ति के जीवन को ढालती है तथा यथानुकूल परिष्कृत होते हुए अगली पीढ़ी को हस्तांतरित होती है। इस प्रकार साधारण अर्थों में कहा जाए तो संस्कृति से तात्पर्य समाज के सभी सदस्यों के साझा व्यवहार के तरीके जिन्हें वो सीखते हैं उनमें सुधार करते हैं तथा अगली पीढ़ी को हस्तांतरित कर देते हैं से है।

संस्कृति को दो अर्थों में देखा जा सकता है प्रथमतः उस समाज की कला, संगीत तथा साहित्य में जो कि उसके साधारण स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं वहीं द्वितीयतः संस्कृति का विशिष्ट स्वरूप उस समाज के चिंतन, मूल्य, विश्वास, प्रतिमान, भाषा, कला, संगीत एवं दर्शन में देखा जा सकता है।

## दर्शन एवं संस्कृति में संबंध —

दर्शन का उद्देश्य विश्व एवं जीवन के मूल तत्व तथा उसके संव्यवहार को जानना होता है ऐसे में जबकि किसी समाज के बुनियादी विश्वास तथा मूल्य जो कि संस्कृति का अनिवार्य भाग होते हैं का अध्ययन करना दर्शन के लिए महत्वपूर्ण हो जाता है इस प्रकार दर्शन को संस्कृति से 'अध्ययन की विषयवस्तु' प्राप्त होती है।

दर्शन संस्कृति की मूलभूत मान्यताओं का विवेचन तथा परीक्षण कर उसे तर्कसंगत बनाता है जिससे संस्कृति का आधार सुदृढ़ होता है वहीं संस्कृति दर्शन को अपने मूल्य एवं सहज विश्वासों के जरिए न केवल विषयवस्तु प्रदान करती है अपितु दार्शनिक चिंतन को भी व्यापक बनाती है।

किसी समाज की संस्कृति उस समाज के वैचारिक स्वरूप या दर्शन की अभिव्यक्ति है इस अर्थ में भी संस्कृति एवं दर्शन का पारस्परिक संबंध है।

## दर्शन और जीवन —

- विश्व क्या है?
- विश्व में उसका स्थान क्या है?
- सार्थकता क्या है?

## संबंध—

- पशु— मनुष्य
- जीवन— सुसंस्कारी
- गूढ़ चिंतन— वैचारिक समस्याओं का समाधान
- सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विचारधारा— परिवर्तन लाता है
- जीवन में मूल्य की आवश्यकता— समुचित व्यवहार का नियंत्रण

## मनुष्य एवं पशु में दो मूलभूत अंतर —

- विचारशीलता
- गुणों को अर्जित करने की क्षमता।

दर्शनशास्त्र को प्राप्त होने वाली अध्ययन सामग्री का विषय क्षेत्र जीवन से संबंधित होता है तथा दर्शन का मुख्य उद्देश्य जीवन की मूल वैचारिक समस्याओं का निराकरण करना होता है इस प्रकार दर्शनशास्त्र जीवन से गहराई से जुड़ा है।

जीवन पर दर्शनशास्त्र के प्रभाव भी बहुआयामी स्वरूप के हैं जिन्हें निम्नांकित बिंदुओं में देखा या समझा जा सकता है—

- a) दर्शन अर्थात् जीवन के प्रति मानव का चिंतन और मरण उसे पशुवत् श्रेणी से ऊपर उठाकर मनुष्य कहलाने योग्य बनाता है यह चिंतन मनुष्य को विश्व के स्वरूप, विश्व में उसके स्थान तथा विश्व में होने की उसकी सार्थकता जैसे प्रश्नों का विवेचन कर उसे पशुत्व से उठाकर विचारशील मनुष्य की श्रेणी में प्रतिष्ठित करता है।
- b) दर्शन मनुष्य में जीवन मूल्य के प्रति चिंतन की प्रेरणा देता है और व्यक्ति के जीवन का वैयक्तिक एवं सार्वजनिक चिंतन उसमें मूल्यों का विकास करता है और यह मूल्य प्रतिमान तथा कालान्तर में संस्कार के रूप में परिवर्तित होते हैं जिससे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में सरलता आती है।
- c) दर्शन जीवन की समस्याओं के प्रति गहन विचारण की क्षमता उत्पन्न करता है और यह गहनता समस्याओं को सुलझाने में सहायक सिद्ध होती है।
- d) दर्शन समाज के संपूर्ण परिदृश्य के प्रति चिंतन के लिए प्रेरित करता है जिससे इन क्षेत्रों के प्रति उत्पन्न नवीन दृष्टिकोण क्रांति(परिवर्तन) में सहायक होता है। विश्व में हुई समस्त आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक क्रांतियां इसी दार्शनिक चिंतन का परिणाम है।

व्यक्ति > दृष्टिकोण > विश्व एवं जीवन > नवीन दृष्टिकोण > क्रांति > संघर्ष > विकास

### भारतीय दर्शन एवं पाश्चात्य दर्शन का भेद

भारतीय दर्शन की मुख्य विशेषता उसके व्यवहारिक पक्ष में है। मानव के दुखों की निवृत्ति के लिए और/ या तत्व साक्षात्कार कराने के लिए हि भारत में दर्शन का जन्म हुआ है (पाश्चात्य दर्शन का उद्भव आश्चर्य और उत्सुकता से हुआ है। वहाँ दर्शन का कोई खास व्यावहारिक उद्देश्य नहीं है ...वहाँ दर्शन मानसिक व्यायाम मात्र है)।

भारत में ज्ञान चर्चा मात्र ज्ञान के लिए (पाश्चात्यों की भांति) ना होकर के मुक्ति के लिए हुई है.....पश्चिम में दर्शन मात्र साध्य रूप है। भारत में साधन रूप।

पश्चिमी दर्शन को वैज्ञानिक कहा जाता है, क्योंकि वहाँ के अत्यधिक दार्शनिकों ने वैज्ञानिक पद्धती एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण को चरम सत्ता के ऊपर प्रकाश डालने के लिए को अपनाया है। विज्ञान वास्तव में सैद्धांतिक होता है और जीवन से जुड़ा हुआ धर्म व्यावहारिक.. इस कारण से पाश्चात्य जगत के दर्शन में विज्ञान व धर्म में परस्पर संघर्ष दीखता है। परन्तु भारत में ऐसा नहीं है क्योंकि यहाँ का दर्शन और धर्म दोनों ही व्यावहारिक है। भारतीय दर्शन पर धर्म की अमित छाप है। सत्य के दर्शन के लिए धर्म सम्मत आचरण प्रथम आवश्यकता है ऐसा भारतीय दर्शन में माना गया है।

पश्चिमी दर्शन बौद्धिक है। वहाँ के दार्शनिकों का मानना है कि बुद्धि के द्वारा वास्तविक एवं सत्य ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। ऐसा वहाँ के दार्शनिकों का मानना है। बुद्धि जब भी किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करती है तब वह भिन्न भिन्न अंगों के विश्लेषण द्वारा हि ज्ञान प्राप्त करती है। डेमोक्रेट्स, सुकरात, प्लेटो, अरस्तु, देकार्त, स्पिनोजा, लेबनीज, हीगल आदि दार्शनिकों ने बुद्धि कि महत्ता पर जोर दिया है। परन्तु भारत में तार्किकता के महत्व को स्वीकार करते हुए आध्यात्मिक ज्ञान को तार्किक ज्ञान से सदैव उच्च स्थान दिया गया है। साक्षात्कार में ज्ञाता व ज्ञेय का भेद मिट जाता है।

पश्चिमी दर्शन विश्लेषणात्मक (analytic) है। करण यह है कि वहाँ दर्शन की विभिन्न शाखाएं हैं। भिन्न भिन्न मानी गए हैं। जैसे तत्व विज्ञान (metaphysics), नीतिनिज्ञान (ethics), प्रमाण विज्ञान (epistemology), ईश्वर विज्ञान (theology), सौंदर्य विज्ञान (aesthetics) आदि तथा दर्शन में भी इनकी व्याख्या अलग से की गयी है। परन्तु भारतीय दर्शन संश्लेषणात्मक(synthetic) है। यहाँ पर सभी का विचार समग्र रूप से एक साथ किया गया है।

पाश्चात्य दर्शन **इह** लोक की सत्ता में हि विश्वास करता है। जबकी अधिकाँश भारतीय दर्शन **इह** लोक के अतिरिक्त पर लोक की सत्ता में भी विश्वास करते है।

आस्तिक दर्शन के छः मुख्य विभाग हैं –

- न्याय दर्शन
- वैशेषिक दर्शन
- सांख्य दर्शन
- योग दर्शन
- वेदान्त दर्शन
- मीमांसा दर्शन

छः मुख्य विभाग होने के कारण इसे षड्दर्शन भी कहा जाता है।

## न्याय दर्शन

न्याय दर्शन भारत के छः वैदिक दर्शनों में एक दर्शन है। इसके प्रवर्तक ऋषि अक्षपाद गौतम हैं जिनका न्यायसूत्र इस दर्शन का सबसे प्राचीन एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

जिन साधनों से हमें ज्ञेय तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उन्हीं साधनों को 'न्याय' की संज्ञा दी गई है। देवराज ने 'न्याय' को परिभाषित करते हुए कहा है—

नीयते विवक्षितार्थः अनेन इति न्यायः (जिस साधन के द्वारा हम अपने विवक्षित (ज्ञेय) तत्त्व के पास पहुँच जाते हैं, उसे जान पाते हैं, वही साधन न्याय है।)

दूसरे शब्दों में, जिसकी सहायता से किसी सिद्धान्त पर पहुँचा जा सके, उसे न्याय कहते हैं। प्रमाणों के आधार पर किसी निर्णय पर पहुँचना ही न्याय है। यह मुख्य रूप से तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा है। इसे तर्कशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, हेतुविद्या, वादविद्या तथा अन्वीक्षिकी भी कहा जाता है।

वात्स्यायन ने प्रमाणैर्थापरीक्षणं न्यायः (प्रमाणों द्वारा अर्थ (सिद्धान्त) का परीक्षण ही न्याय है।) इस दृष्टि से जब कोई मनुष्य किसी विषय में कोई सिद्धान्त स्थिर करता है तो वहाँ न्याय की सहायता अपेक्षित होती है। इसलिये न्याय-दर्शन विचारशील मानव समाज की मौलिक आवश्यकता और उद्भावना है। उसके बिना न मनुष्य अपने विचारों एवं सिद्धान्तों को परिष्कृत एवं सुस्थिर कर सकता है न प्रतिपक्षी के सैद्धान्तिक आघातों से अपने सिद्धान्त की रक्षा ही कर सकता है।

न्यायशास्त्र उच्चकोटि के संस्कृत साहित्य (और विशेषकर भारतीय दर्शन) का प्रवेशद्वार है। उसके प्रारम्भिक परिज्ञान के बिना किसी ऊँचे संस्कृत साहित्य को समझ पाना कठिन है, चाहे वह व्याकरण, काव्य, अलंकार, आयुर्वेद, धर्मग्रन्थ हो या दर्शनग्रन्थ। दर्शन साहित्य में तो उसके बिना एक पग भी चलना असम्भव है। न्यायशास्त्र वस्तुतः बुद्धि को सुपरिष्कृत, तीव्र और विशद बनाने वाला शास्त्र है। परन्तु न्यायशास्त्र जितना आवश्यक और उपयोगी है उतना ही कठिन भी, विशेषतः नव्यन्याय तो मानो दुर्बोधता को एकत्र करके ही बना है।

वैशेषिक दर्शन की ही भाँति न्यायदर्शन में भी पदार्थों के तत्व ज्ञान से निःश्रेयस् की सिद्धि बतायी गयी है। न्यायदर्शन में 16 पदार्थ माने गये हैं—

1. प्रमाण — ये मुख्य चार हैं — प्रत्यक्ष , अनुमान , उपमान एवं शब्द ।
2. प्रमेय — ये बारह हैं — आत्मा, शरीर, इन्द्रियाँ, अर्थ , बुद्धि / ज्ञान / उपलब्धि , मन, प्रवृत्ति , दोष, प्रेतभाव , फल, दुःख और उपवर्ग ।
3. संशय
4. प्रयोजन
5. दृष्टान्त
6. सिद्धान्त — चार प्रकार के हैं : सर्वतन्त्र सिद्धान्त , प्रतितन्त्र सिद्धान्त, अधिकरण सिद्धान्त और अभुपगम सिद्धान्त ।
7. अवयव
8. तर्क
9. निर्णय
10. वाद
11. जल्प
12. वितण्डता
13. हेत्वाभास — ये पाँच प्रकार के होते हैं : सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत ।
14. छल — वाक् छल , सामान्य छल और उपचार छल ।
15. जाति
16. निग्रहस्थान

## वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक हिन्दुओं के षडदर्शनों में से एक दर्शन है। इसके मूल प्रवर्तक ऋषि कणाद हैं (ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी)। यह दर्शन न्याय दर्शन से बहुत साम्य रखता है किन्तु वास्तव में यह एक स्वतंत्र भौतिक विज्ञानवादी दर्शन है।

इस प्रकार के आत्मदर्शन के विचारों का सबसे पहले महर्षि कणाद ने सूत्र रूप में लिखा। कणाद एक ऋषि थे। ये "उच्छ्वृत्ति" थे और धान्य के कणों का संग्रह कर उसी को खाकर तपस्या करते थे। इसी लिए इन्हें "कणाद" या "कणभुक्" कहते थे। किसी का कहना है कि कण अर्थात् परमाणु तत्व का सूक्ष्म विचार इन्होंने किया है, इसलिए इन्हें "कणाद" कहते हैं। किसी का मत है कि दिन भर ये समाधि में रहते थे और रात्रि को कणों का संग्रह करते थे। यह वृत्ति "उल्लू" पक्षी की है। किस का कहना है कि इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर ईश्वर ने उल्लूक पक्षी के रूप में इन्हें शास्त्र का उपदेश दिया। इन्हीं कारणों से यह दर्शन "औलूक्य", "काणाद", "वैशेषिक" या "पाशुपत" दर्शन के नामों से प्रसिद्ध है।

पठन-पाठन में विशेष प्रचलित न होने के कारण वैशेषिक सूत्रों में अनेक पाठभेद हैं तथा 'त्रुटियाँ' भी पर्याप्त हैं। मीमांसासूत्रों की तरह इसके कुछ सूत्रों में पुनरुक्तियाँ हैं — जैसे "सामान्यविशेषाभावेच" (4 बार) "सामान्यतोदृष्टाच्चा विशेषः" (2 बार), "तत्त्वं भावेन" (4 बार), "द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्यख्याते" (3 बार), "संदिग्धस्तूपचारः" (2 बार)।

## सांख्य दर्शन

भारतीय दर्शन के छः प्रकारों में से सांख्य भी एक है जो प्राचीनकाल में अत्यंत लोकप्रिय तथा प्रथित हुआ था। यह अद्वैत वेदान्त से सर्वथा विपरीत मान्यताएँ रखने वाला दर्शन है। इसकी स्थापना करने वाले मूल व्यक्ति कपिल कहे जाते हैं। 'सांख्य' का शाब्दिक अर्थ है – 'संख्या सम्बंधी' या विश्लेषण। इसकी सबसे प्रमुख धारणा सृष्टि के प्रकृति-पुरुष से बनी होने की है, यहाँ प्रकृति (यानि पंचमहाभूतों से बनी) जड़ है और पुरुष (यानि जीवात्मा) चेतन। योग शास्त्रों के ऊर्जा स्रोत (ईडा-पिंगला), शाक्तों के शिव-शक्ति के सिद्धांत इसके समानान्तर दीखते हैं।

भारतीय संस्कृति में किसी समय सांख्य दर्शन का अत्यंत ऊँचा स्थान था। देश के उदात्त मस्तिष्क सांख्य की विचार पद्धति से सोचते थे। महाभारतकार ने यहाँ तक कहा है कि ज्ञान च लोके यदिहास्ति किंचित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन् (शांति पर्व 301.109)। वस्तुतः महाभारत में दार्शनिक विचारों की जो पृष्ठभूमि है, उसमें सांख्यशास्त्र का महत्वपूर्ण स्थान है। शान्ति पर्व के कई स्थलों पर सांख्य दर्शन के विचारों का बड़े काव्यमय और रोचक ढंग से उल्लेख किया गया है। सांख्य दर्शन का प्रभाव गीता में प्रतिपादित दार्शनिक पृष्ठभूमि पर पर्याप्त रूप से विद्यमान है।

इसकी लोकप्रियता का कारण एक यह अवश्य रहा है कि इस दर्शन ने जीवन में दिखाई पड़ने वाले वैषम्य का समाधान त्रिगुणात्मक प्रकृति की सर्वकारण रूप में प्रतिष्ठा करके बड़े सुंदर ढंग से किया। सांख्याचार्यों के इस प्रकृति-कारण-वाद का महान गुण यह है कि पृथक्-पृथक् धर्म वाले सत्, रजस् तथा तमस् तत्त्वों के आधार पर जगत् की विषमता का किया गया समाधान बड़ा बुद्धिगम्य प्रतीत होता है। किसी लौकिक समस्या को ईश्वर का नियम न मानकर इन प्रकृतियों के तालमेल बिगड़ने और जीवों के पुरुषार्थ न करने को कारण बताया गया है। यानि, सांख्य दर्शन की सबसे बड़ी महानता यह है कि इसमें सृष्टि की उत्पत्ति भगवान के द्वारा नहीं मानी गयी है बल्कि इसे एक विकासात्मक प्रक्रिया के रूप में समझा गया है और माना गया है कि सृष्टि अनेक अनेक अवस्थाओं (phases) से होकर गुजरने के बाद अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हुई है। कपिलाचार्य को कई अनीश्वरवादी मानते हैं पर भगवद्गीता और सत्यार्थप्रकाश जैसे ग्रंथों में इस धारणा का निषेध किया गया है।

## योग दर्शन

योगदर्शन छः आस्तिक दर्शनों (षड्दर्शन) में से प्रसिद्ध है। इस दर्शन का प्रमुख लक्ष्य मनुष्य को वह परम लक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति कर सके। अन्य दर्शनों की भांति योगदर्शन तत्त्वमीमांसा के प्रश्नों (जगत् क्या है, जीव क्या है?, आदि) में न उलझकर मुख्यतः मोक्ष वाले दर्शन की प्रस्तुति करता है। किन्तु मोक्ष पर चर्चा करने वाले प्रत्येक दर्शन की कोई न कोई तात्त्विक पृष्ठभूमि होनी आवश्यक है। अतः इस हेतु योगदर्शन, सांख्यदर्शन का सहारा लेता है और उसके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वमीमांसा को स्वीकार कर लेता है। इसलिये प्रारम्भ से ही योगदर्शन, सांख्यदर्शन से जुड़ा हुआ है।

प्रकृति, पुरुष के स्वरूप के साथ ईश्वर के अस्तित्व को मिलाकर मनुष्य जीवन की आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक उन्नति के लिये दर्शन का एक बड़ा व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक रूप योगदर्शन में प्रस्तुत किया गया है। इसका प्रारम्भ पतंजलि मुनि के योगसूत्रों से होता है। योगसूत्रों की सर्वोत्तम व्याख्या व्यास मुनि द्वारा लिखित व्यासभाष्य में प्राप्त होती है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार मनुष्य अपने मन (चित) की वृत्तियों पर नियन्त्रण रखकर जीवन में सफल हो सकता है और अपने अन्तिम लक्ष्य निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। योगदर्शन, सांख्य की तरह द्वैतवादी है। सांख्य के तत्त्वमीमांसा को पूर्ण रूप से स्वीकारते हुए उसमें केवल 'ईश्वर' को जोड़ देता है। इसलिये योगदर्शन को 'सेश्वर सांख्य' (स. ईश्वर सांख्य) कहते हैं और सांख्य को 'कहा जाता है।

## वेदान्त दर्शन

वेदान्त ज्ञानयोग की एक शाखा है जो व्यक्ति को ज्ञान प्राप्ति की दिशा में उत्प्रेरित करता है। इसका मुख्य स्रोत उपनिषद् है जो वेद ग्रंथों और अरण्यक ग्रंथों का सार समझे जाते हैं। उपनिषद् वैदिक साहित्य का अंतिम भाग है, इसीलिए इसको वेदान्त कहते हैं। कर्मकांड और उपासना का मुख्यतः वर्णन मंत्र और ब्राह्मणों में है, ज्ञान का विवेचन उपनिषदों में। 'वेदान्त' का शाब्दिक अर्थ है – 'वेदों का अंत' (अथवा सार)।

वेदान्त की तीन शाखाएँ जो सबसे ज्यादा जानी जाती हैं वे हैं: अद्वैत वेदान्त, विशिष्ट अद्वैत और द्वैत। आदि शंकराचार्य, रामानुज और श्री मध्वाचार्य जिनको क्रमशः इन तीनों शाखाओं का प्रवर्तक माना जाता है, इनके अलावा भी ज्ञानयोग की अन्य शाखाएँ हैं। ये शाखाएँ अपने प्रवर्तकों के नाम से जानी जाती हैं जिनमें भास्कर, वल्लभ, चौतन्य, निम्बारक, वाचस्पति मिश्र, सुरेश्वर और विज्ञान भिक्षु। आधुनिक काल में जो प्रमुख वेदान्ती हुये हैं उनमें रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, अरविंद घोष, स्वामी शिवानंद स्वामी करपात्री और रमण महर्षि उल्लेखनीय हैं। ये आधुनिक विचारक अद्वैत वेदान्त शाखा का प्रतिनिधित्व करते हैं। दूसरे वेदान्तों के प्रवर्तकों ने भी अपने विचारों को भारत में भलिभाँति प्रचारित किया है परन्तु भारत के बाहर उन्हें बहुत कम जाना जाता है।

## मीमांसा दर्शन

मीमांसा दर्शन हिन्दुओं के छः दर्शनों में से एक है। इस शास्त्र को 'पूर्वमीमांसा' और वेदान्त को 'उत्तरमीमांसा' भी कहा जाता है। पूर्वमीमांसा में धर्म का विचार है और उत्तरमीमांसा में ब्रह्म का। अतः पूर्वमीमांसा को धर्ममीमांसा और उत्तर मीमांसा को ब्रह्ममीमांसा भी कहा जाता है। जैमिनि मुनि द्वारा रचित सूत्र होने से मीमांसा को 'जैमिनीय धर्ममीमांसा' कहा जाता है।

पक्ष-प्रतिपक्ष को लेकर वेदवाक्यों के निर्णीत अर्थ के विचार का नाम मीमांसा है। उक्त विचार पूर्व आर्य परंपरा से चला आया है। किंतु आज से प्रायः सवा पाँच हजार वर्ष पूर्व सामवेद के आचार्य कृष्ण द्वैपायन के शिष्य ने उसे सूत्रबद्ध किया। सूत्रों में पूर्व पक्ष और सिद्धान्त के रूप में बादरायण, बादरि, आत्रेय, आश्वरथ्य, आलेखन, ऐतिशायन, कामुकायन, कार्ष्णाजिनि और लाबुकायन महर्षियों का उल्लेख मिलता है, जिसका विस्तृत विवेचन सूत्रों के भाष्य और वार्तिक में किया गया है, जिनसे सहस्राधिकरण हो गए हैं।

जर्मन विद्वान मैक्समूलर का कहना है कि – “यह दर्शन शास्त्र कोटि में नहीं आ सकता, क्योंकि इसमें धर्मानुष्ठान का ही विवेचन किया गया है। इसमें जीव, ईश्वर, बन्ध, मोक्ष और उनके साधनों का कहीं भी विवेचन नहीं है।”

मैक्समूलर मत के पक्षपाती कुछ भारतीय विद्वान् भी इसे दर्शन कहने में संकोच करते हैं, क्योंकि न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और वेदान्त में जिस प्रकार तत् तत् प्रकरणों में प्रमाण और प्रमेयों के द्वारा आत्मा-अनात्मा, बन्ध-मोक्ष आदि का मुख्य रूप से विवेचन मिलता है, वैसा मीमांसा दर्शन के सूत्र, भाष्य और वार्तिक आदि में दृष्टिगोचर नहीं होता।

उपर्युक्त विचारकों ने स्थूल बुद्धि से ग्रंथ का अध्ययन कर अपने विचार व्यक्त किए हैं। फिर भी स्पष्ट है कि मीमांसा दर्शन ही सभी दर्शनों का सहयोगी कारण है। जैमिनि ने इन विषयों का बीज रूप से अपने सूत्रों में उपन्यास किया है “सत्संप्रयोगे पुरुषस्येंद्रियणां बुद्धि जन्म तत् प्रत्यक्षम्” (जै.ध.मी.सू. 1.1.4) चतुर्थ सूत्र में दो शब्द आए हैं – पुरुष और बुद्धि। पुरुष शब्द से “आत्मा” ही विवक्षित है। यह अर्थ कुमारिल भट्ट ने “भाट्टदीपिका” में लिखा है। बुद्धि शब्द से ज्ञान, (प्रमिति) प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण अर्थ को व्यक्त किया गया है।

वृत्तिकार ने “तस्य निमित्त परीष्टिः” पर्यन्त तीन सूत्रों में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाणों का सपरिकर विशद विवेचन तथा औत्पत्तिक सूत्र में आत्मवाद का विशेष विवेचन अपने व्याख्यान में किया है। इसी का विश्लेषण शाबर भाष्य, श्लोक वार्तिक, शास्त्रदीपिका, भाट्ट चिंतामणि आदि ग्रंथों में किया गया है जिसमें प्रमाण और प्रमेयों का भेद, बंध, मोक्ष और उनके साधनों का भी विवेचन है। मीमांसा दर्शन में भारतवर्ष के मुख्य प्राणधन धर्म का वर्णाश्रम व्यवस्था, आधानादि, अश्वमेधांत आदि विचारों का विवेचन किया गया है।

प्रायः विश्व में ज्ञानी और विरक्त पुरुष सर्वत्र होते आए हैं, किंतु धर्माचरण के साक्षात् फलवेत्ता और कर्मकांड के प्रकांड विद्वान् भारतवर्ष में ही हुए हैं। इनमें कात्यायन, आश्वलायन, आपस्तम्ब, बोधायन, गौतम आदि महर्षियों के ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं। (कर्मकांड के विद्वानों के लिए उपनिषदों में महाशालाय श्रोत्रियाः, यह विशेषण प्राप्त होता है)। भारतीय कर्मकांड सिद्धान्त का प्रतिदान और समर्थन इसी दर्शन में प्राप्त होता है। डॉ. कुंज राजा ने “बृहती” के द्वितीय संस्करण की भूमिका में इसका समुचित रूप से निरूपण किया है। यद्यपि कणाद मुनि कृत वैशेषिक दर्शन में धर्म का नामतः उल्लेख प्राप्त होता है – (1. 1, 11. 1. 2, 1.1. 3) तथापि उसके विषय में आगे विचार नहीं किया गया है। किसी विद्वान् का कहना है –

धर्मव्याख्यातुकामस्य षट् पदार्थविवेचनम्।

समुद्रं गंतुकामस्य हिमवद् गमनं यथा॥

अर्थात् जैसे कोई मनुष्य समुद्र पर्यन्त जाने की इच्छा रखते हुए हिमालय में चला जाता है, उसी प्रकार धर्म के व्याख्यान के इच्छुक कणाद मुनि षट् पदार्थों का विवेचन करते रह गए। उत्तर मीमांसा (वेदान्त) के सिद्धान्त के अनुसार कर्मत्याग के पश्चात् ही आत्मज्ञान प्राप्ति का अधिकार है, किन्तु पूर्व मीमांसा दर्शन के अनुसार—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

इस वेदमंत्र के अनुसार मुमुक्षु जनों को भी कर्म करना चाहिए। वेदविहित कर्म करने से कर्मबंधन स्वतः समाप्त हो जाता है – (कर्मणा त्यज्यते ह्यसौ, तस्मान्मुमुक्षुभिः कार्यं नित्यं नैमित्तिकं तथा आदि वचनों के अनुसार भारतीय आस्तिक दर्शनों का मुख्य प्राण मीमांसा दर्शन है।

## नास्तिक दर्शन

नास्तिक दर्शन भारतीय दर्शन परम्परा में उन दर्शनों को कहा जाता है जो वेदों को नहीं मानते थे।

भारत में भी कुछ ऐसे व्यक्तियों ने जन्म लिया जो वैदिक परम्परा के बन्धन को नहीं मानते थे वे नास्तिक कहलाये तथा दूसरे जो वेद को प्रमाण मानकर उसी के आधार पर अपने विचार आगे बढ़ाते थे वे आस्तिक कहे गये।

नास्तिक कहे जाने वाले विचारकों की तीन धारायें मानी गयी हैं – चार्वाक, जैन तथा बौद्ध।

## चार्वाक दर्शन

चार्वाक दर्शन एक भौतिकवादी नास्तिक दर्शन है। यह मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को मानता है तथा पारलौकिक सत्ताओं को यह सिद्धान्त स्वीकार नहीं करता है। यह दर्शन वेदबाह्य भी कहा जाता है।

वेदबाह्य दर्शन छः हैं— चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, और आर्हत। इन सभी में वेद से असम्मत सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।

अजित केशकंबली को चार्वाक के अग्रदूत के रूप में श्रेय दिया जाता है, जबकि बृहस्पति को आमतौर पर चार्वाक या लोकायत दर्शन के संस्थापक के रूप में जाना जाता है। चार्वाक, बृहस्पति सूत्र (सीए 600 ईसा पूर्व) के अधिकांश प्राथमिक साहित्य गायब या खो गए

हैं। इसकी शिक्षाओं को ऐतिहासिक माध्यमिक साहित्य से संकलित किया गया है जैसे कि शास्त्र, सूत्र, और भारतीय महाकाव्य कविता में और गौतम बुद्ध के संवाद और जैन साहित्य से। चार्वाक प्राचीन भारत के एक अनीश्वरवादी और नास्तिक तार्किक थे। उ३, ये नास्तिक मत के प्रवर्तक बृहस्पति के शिष्य माने जाते हैं। बृहस्पति और चार्वाक कब हुए इसका कुछ भी पता नहीं है। बृहस्पति को चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र ग्रन्थ में अर्थशास्त्र का एक प्रधान आचार्य माना है।

## जैन दर्शन

जैन दर्शन एक प्राचीन भारतीय दर्शन है। इसमें अहिंसा को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। जैन धर्म की मान्यता अनुसार 24 तीर्थंकर समय-समय पर संसार चक्र में फसें जीवों के कल्याण के लिए उपदेश देने इस धरती पर आते हैं। लगभग छठी शताब्दी ई० पू० में अंतिम तीर्थंकर, भगवान महावीर के द्वारा जैन दर्शन का पुनराव्रण हुआ। इसमें वेद की प्रामाणिकता को कर्मकाण्ड की अधिकता और जड़ता के कारण मिथ्या बताया गया। जैन दर्शन के अनुसार जीव और कर्मों का यह सम्बन्ध अनादि काल से है। जब जीव इन कर्मों को अपनी आत्मा से सम्पूर्ण रूप से मुक्त कर देता है तो वह स्वयं भगवान बन जाता है। लेकिन इसके लिए उसे सम्यक पुरुषार्थ करना पड़ता है। यह जैन धर्म की मौलिक मान्यता है।

सत्य का अनुसंधान करने वाले 'जैन' शब्द की व्युत्पत्ति 'जिन' से मानी गई है, जिसका अर्थ होता है— विजेता अर्थात् वह व्यक्ति जिसने इच्छाओं (कामनाओं) एवं मन पर विजय प्राप्त करके हमेशा के लिए संसार के आवागमन से मुक्ति प्राप्त कर ली है। इन्हीं जिनो के उपदेशों को मानने वाले जैन तथा उनके साम्प्रदायिक सिद्धान्त जैन दर्शन के रूप में प्रख्यात हुए। जैन दर्शन 'अर्हत दर्शन' के नाम से भी जाना जाता है। जैन धर्म में चौबीस तीर्थंकर (महापुरुष, जैनों के ईश्वर) हुए जिनमें प्रथम ऋषभदेव तथा अन्तिम महावीर (वर्धमान) हुए। इनके कुछ तीर्थंकरों के नाम ऋग्वेद में भी मिलते हैं, जिससे इनकी प्राचीनता प्रमाणित होती है।

जैन दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ प्राकृत (मागधी) भाषा में लिखे गये हैं। बाद में कुछ जैन विद्वानों ने संस्कृत में भी ग्रन्थ लिखे। उनमें 900 ई० के आसपास आचार्य उमास्वामीद्वारा रचित तत्त्वार्थ सूत्र बड़ा महत्वपूर्ण है। वह पहला ग्रन्थ है जिसमें संस्कृत भाषा के माध्यम से जैन सिद्धान्तों के सभी अंगों का पूर्ण रूप से वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् अनेक जैन विद्वानों ने संस्कृत में व्याकरण, दर्शन, काव्य, नाटक आदि की रचना की।

## बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन से अभिप्राय उस दर्शन से है जो भगवान बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा विकसित किया गया और बाद में पूरे एशिया में उसका प्रसार हुआ। 'दुःख से मुक्ति' बौद्ध धर्म का सदा से मुख्य ध्येय रहा है। कर्म, ध्यान एवं प्रज्ञा इसके साधन रहे हैं।

बुद्ध के उपदेश तीन पिटकों में संकलित हैं। ये सुत्त पिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक कहलाते हैं। ये पिटक बौद्ध धर्म के आगम हैं। क्रियाशील सत्य की धारणा बौद्ध मत की मौलिक विशेषता है। उपनिषदों का ब्रह्म अचल और अपरिवर्तनशील है। बुद्ध के अनुसार परिवर्तन ही सत्य है। पश्चिमी दर्शन में हैराक्लाइटस और बर्गासों ने भी परिवर्तन को सत्य माना। इस परिवर्तन का कोई अपरिवर्तनीय आधार भी नहीं है। बाह्य और आंतरिक जगत् में कोई ध्रुव सत्य नहीं है। बाह्य पदार्थ "स्वलक्षणों" के संघात हैं। आत्मा भी मनोभावों और विज्ञानों की धारा है। इस प्रकार बौद्धमत में उपनिषदों के आत्मवाद का खंडन करके "अनात्मवाद" की स्थापना की गई है। फिर भी बौद्धमत में कर्म और पुनर्जन्म मान्य हैं। आत्मा का न मानने पर भी बौद्धधर्म करुणा से ओतप्रोत है। दुःख से द्रवित होकर ही बुद्ध ने सन्यास लिया और दुःख के निरोध का उपाय खोजा। अविद्या, तृष्णा आदि में दुःख का कारण खोजकर उन्होंने इनके उच्छेद को निर्वाण का मार्ग बताया।

अनात्मवादी होने के कारण बौद्ध धर्म का वेदांत से विरोध हुआ। इस विरोध का फल यह हुआ कि बौद्ध धर्म को भारत से निर्वासित होना पड़ा। किन्तु एशिया के पूर्वी देशों में उसका प्रचार हुआ। बुद्ध के अनुयायियों में मतभेद के कारण कई संप्रदाय बन गए। जैन संप्रदाय वेदांत के समान ध्यानवादी है। इसका चीन में प्रचार है।

सिद्धांतभेद के अनुसार बौद्ध परंपरा में चार दर्शन प्रसिद्ध हैं। इनमें वैभाषिक और सौत्रांतिक मत हीनयान परंपरा में हैं। यह दक्षिणी बौद्धमत हैं। इसका प्रचार भी लंका में है। योगाचार और माध्यमिक मत महायान परंपरा में हैं। यह उत्तरी बौद्धमत है। इन चारों दर्शनों का उदय ईसा की आरंभिक शताब्दियों में हुआ। इसी समय वैदिक परंपरा में षड्दर्शनों का उदय हुआ। इस प्रकार भारतीय परंपरा में दर्शन संप्रदायों का आविर्भाव लगभग एक ही साथ हुआ है तथा उनका विकास परस्पर विरोध के द्वारा हुआ है। पश्चिमी दर्शनों की भाँति ये दर्शन पूर्वापर क्रम में उदित नहीं हुए हैं।

वसुबंधु (400 ई.), कुमारलात (200 ई.) मैत्रेय (300 ई.) और नागार्जुन (200 ई.) इन दर्शनों के प्रमुख आचार्य थे। वैभाषिक मत बाह्य वस्तुओं की सत्ता तथा स्वलक्षणों के रूप में उनका प्रत्यक्ष मानता है। अतः उसे बाह्य प्रत्यक्षवाद अथवा "सर्वास्तित्ववाद" कहते हैं। सौत्रांतिक मत के अनुसार पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं, अनुमान होता है। अतः उसे बाह्यानुमेयवाद कहते हैं। योगाचार मत के अनुसार बाह्य पदार्थों की सत्ता नहीं। हमें जो कुछ दिखाई देता है वह विज्ञान मात्र है। योगाचार मत विज्ञानवाद कहलाता है। माध्यमिक मत के अनुसार विज्ञान भी सत्य नहीं है। सब कुछ शून्य है। शून्य का अर्थ निरस्वभाव, निःस्वरूप अथवा अनिर्वचनीय है। शून्यवाद का यह शून्य वेदांत के ब्रह्म के बहुत निकट आ जाता है।



## धर्म – दर्शन =

प्रकार – a)बाह्य – 1. कर्मकांड

b)आंतरिक–

- 1.व्यापक मनोवृत्ति
- 2.अलौकिक सत्ता
- 3.मुक्ति का आश्वासन
- 4.आत्मा – क) सैध्दांतिक  
ख) संवेदनात्मक अनुभूति  
ग) व्यवहार

धर्म के चार स्रोत– a)वेद

- b)स्मृति
- c)आचार
- d)आत्मसंतुष्टि

दर्शन के चार स्रोत– a)स्पष्टीकरण

- b)संगति का नियम
- c)तथ्यों की खोजधरिषा
- d)प्रमाणों की स्वीकृति

## धर्म–दर्शन

धर्म दर्शन दर्शनशास्त्र की एक शाखा है जिसके अंतर्गत धार्मिक मान्यताओं,विश्वासों,सिद्धांतों एवं आस्थाओं को विवेचना की कसौटी पर कसकर धर्म के मूल एवं निष्पक्ष स्वरूप को जानने की कोशिश करते हैं।

धर्म–दर्शन शब्द के अंतर्गत धर्म से तात्पर्य उस मनोवृत्ति से है जो व्यक्ति के सभी पक्षों को प्रभावित करती है। अलौकिक, पवित्र, सर्वगुणसंपन्न सत्ता के प्रति अखंड आस्था से उत्पन्न होती है। इस उपास्य के प्रति मोक्षमूलक श्रद्धा कर्मकांडों के रूप में अभिव्यक्त होती है।

दर्शन से तात्पर्य उस बौद्धिक प्रयास से है जिसके द्वारा किसी भी विषय से संबंधित मूल या आधारभूत मान्यताओं की तर्कसंगत परीक्षा कर अपना मत निश्चित किया जाता है।

इस प्रकार धर्म–दर्शन दर्शन की उस शाखा के रूप में जाना जाता है जो सभी धार्मिक विश्वासों,अनुभवों तथा सिद्धांतों के सत्य अथवा मिथ्या होने की सुव्यवस्थित, तर्कसंगत एवं निष्पक्ष परीक्षा करती है।

## धर्म–दर्शन का क्षेत्र –

धर्म–दर्शन के अंतर्गत चूंकि मनुष्य की समस्त धारमय मान्यताओं का ही विवेचन किया जाता है अतः यह मिलता धार्मिक जीवन से ही संबंध रखता है। किन्तु धर्म जीवन के प्रत्येक पहलू पर अपना प्रभाव रखता है अतः धर्म–दर्शन का क्षेत्र अत्यंत व्यापक हो जाता है।

किन्तु धर्म–दर्शन का क्षेत्र विशेषतः चार भागों में बांटा जाता है –

1. धर्म–दर्शन में धर्म का दार्शनिक विवेचन अर्थात् धर्म के मूल तत्वों की खोज की जाती है साथ ही धर्म का ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन कर विषय के रूप में तथ्यों का संकलन किया जाता है।

2. धर्म–दर्शन धर्म की तात्विक मीमांसा करता है अर्थात् किसी धर्म के अंतर्गत

- मूल तत्व क्या है?
- ईश्वर क्या है?
- ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण क्या हैं?
- ईश्वर के गुण कौन कौन से हैं?
- अशुभ क्या है?

इत्यादि की व्याख्या की जाती है।

3. धर्म–दर्शन धर्म की ज्ञान मीमांसा करता है। इसके अंतर्गत —धार्मिक भाषा क्या है?

- धार्मिक भाषा का स्वरूप?
- धार्मिक अनुभूतियों क्या है?
- अनुभूतियों की प्रामाणिकता क्या है?

तथा धर्म में धर्मशास्त्रों की भूमिका का विवेचन किया जाता है।

4. धर्म–दर्शन में इनके अतिरिक्त धार्मिक मूल्य, श्रद्धा तथा तर्क संबंधी अध्ययन किए जाते हैं और विचारण किया जाता है कि यह कितने तर्कपरक हैं।

## धर्म-दर्शन के अध्ययन की विधियाँ –

धर्म-दर्शन में अध्ययन की चार विधियाँ प्राप्त होती हैं जो इस प्रकार हैं –

1. श्रुतिमूलक विधि – इसके अंतर्गत धर्मशास्त्रों में उपलब्ध प्रमाणों को ही धर्म-दर्शन के विवेचन का आधार बनाया जाता है किंतु इस विधि के विरुद्ध आपत्ति है कि यह तर्क और अनुभव को दरकिनार करते हैं और धर्मशास्त्र को ही अनिवार्य प्रमाण मानते हैं।
2. अंतःप्रज्ञामूलक विधि – इस विधि के अंतर्गत बाह्य प्रमाणों को आधार न मानकर अंतः प्रज्ञा को ही मूल आधार माना जाता है इसकी मान्यता है कि अलौकिक तथ्य, लौकिक ज्ञान का विषय नहीं हो सकते, परम सत्य का साक्षात्कार अंतः प्रज्ञा द्वारा ही संभव है। किन्तु इस विधि के विरुद्ध भी इसी प्रकार के आक्षेप लगाये जाते हैं।
3. बौद्धिक निदर्शन विधि – धर्म-दर्शन में दर्शन की यह विधि केवल तर्क के आधार पर धर्म के विषय का अन्वेषण करती है जिसमें केवल तर्कों को ही प्रमाण माना जाता है यह धर्म-दर्शन में सर्वाधिक सहायक विधि है चूंकि यह व्यक्ति के अनुभवों को अस्वीकार करती है अतः व्यक्ति सापेक्ष ज्ञान को स्वीकार नहीं करती।
4. अनुभव मूलक विधि – इस विधि का समर्थन करने वाले दार्शनिक मनुष्य की इंद्रियजन्य अनुभवों को प्राथमिकता देते हैं, इनकी मान्यता है कि जिस ज्ञान का अनुभव नहीं किया जा सकता वह विषय तर्क के लिए हो सकता है ज्ञान के लिए नहीं।

## धर्म दर्शन में मूल समस्याएं –

धर्म की उत्पत्ति – भय और कौतूहल से।

1. सर्वात्मवाद – अलौकिक सर्वसत्ता का आचरण।
2. माना – विशेष गुण(मनुष्य का)
3. टोटम – विशेष शक्ति या कुल चिन्ह

## ईश्वर –

ईश्वर की सत्ता –

ईश्वर संबंधी धारणा का विवेचन धर्म-दर्शन के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं विचारणीय प्रश्न है जिसके अंतर्गत ईश्वर के अस्तित्व अथवा उसकी सत्ता का विचारण किया जाता है।

इस संबंध में अधिकांश प्रमाण 'मानवत्वारोधी' स्वरूप के हैं इस संबंध में ईश्वर के सत्ता को सिद्ध करने के लिए दिए गए प्रमाणों को दो वर्गों में रखा जा सकता है।

### 1. आनुभाविक –

a) सृष्टिमूलक–

- क) गति
- ख) अनिवार्य सत्ता
- ग) कार्यकारण

b) प्रयोजन मूलक

c) नीतिमूलक

d) धार्मिक अनुभव

### 2. प्रागानुभाविक–

- a) प्रत्ययसत्ता मूलक
- b) विचार

### a) सृष्टिमूलक–

“ईश्वर में अगर गति का होना माना जाए तो अनवस्था दोष हो जाएगा।”

क) गति के विरुद्ध तर्क – जड़ वस्तु गति नहीं दे सकती।

ख) अनिवार्य सत्ता – अनिवार्य सत्ता का सिद्धान्त दोषपूर्ण है।

ग) कार्यकारण – कोई भी सत्ता स्वयं में पूर्ण कारण या पूर्ण कार्य नहीं हो सकते।

विद्या अतुल्य अलंकार

RAJPUT TUTORIALS

## b) प्रयोजनमूलक –

### समर्थन में प्रमाण –

- क) घड़ी को देखकर निर्माता का अनुमान
- ख) ओजोन गैस का प्रमाण
- ग) आग एवं धुआं

### विरोध में प्रमाण –

- क) घड़ी निर्माता और ईश्वर में कोई साम्य नहीं है।
- ख) उत्तरजीविता का सिद्धांत समन्वय का खंडन करता है।
- ग) बाढ़, तूफान, भूकंप आदि सृष्टि रचना में दोष को बताते हैं।

## c) नीतिमूलक –

### समर्थन में प्रमाण –

- क) ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किए बिना नैतिक मूल्य उच्चतम और पूर्ण शुभ तथा शुभ संकल्प को प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

### विरोध में प्रमाण –

- क) अशुभ का अस्तित्व तथा नैतिक नियमों का व्यक्तिनिष्ठ होना इसका खंडन करता है।

## d) धार्मिक अनुभव –

### समर्थन में प्रमाण –

क) व्यक्ति को होने वाले धार्मिक संवेगात्मक अनुभव इस बात का प्रमाण हैं कि ईश्वर होता है इनके विरुद्ध तर्क है कि मनोरोगियों को भी विभिन्न काल्पनिक अनुभव होते हैं।

### विरोध में तर्क –

- क) धार्मिक अनुभवों में वस्तुनिष्ठता का अभाव होता है।

## 2. प्रागानुभाविक –

### समर्थन में प्रमाण –

प्रागानुभववादी/पूर्णप्रत्ययवादी यह मानते हैं कि एक पूर्ण प्रत्यय से ही इस विश्व की रचना हुई है प्रथमतः प्रत्यय(विचार) उत्पन्न होता है तदनुरूप वस्तु का निर्माण होता है।

### विरोध में –

विचार से वस्तु की उत्पत्ति का अनुभव नहीं किया जा सकता।

### अशुभ –

दर्शनशास्त्र में अशुभ की समस्या को ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध प्रबल तर्क के रूप में प्रयोग किया जाता है, अशुभ का शाब्दिक तात्पर्य बुराई से माना जाता है किंतु दर्शन में अशुभ से तात्पर्य ऐसे दुःख या कष्ट से होता है जो कि मानसिक या शारीरिक रूप में मनुष्य को गैर न्यायोचित प्राप्त होता है।

### अशुभ के प्रकार –

अशुभ को विचारों के साथ दुःख की यथार्थ सत्ता के रूप में स्वीकार किया जाता है क्योंकि यह कोई रहस्यमयी वस्तु नहीं है अपितु शारीरिक एवं मानसिक दुःख तथा मानवीय दुराचरण के रूप में सभी के द्वारा इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है।

### अशुभ को दो वर्गों में वर्गीकृत किया गया है –

1. भौतिक (अशुभ क्यों जरूरी है?)
2. अभौतिक (जरूरी नहीं है?)

### 1. भौतिक अशुभ(प्राकृतिक अशुभ) –

यह वे अशुभ हैं जिनके घटित होने में प्राणियों का कोई नियंत्रण नहीं होता इसके अंतर्गत विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक घटनाओं से उत्पन्न दुःख, शारीरिक तथा मानसिक दुःख को शामिल किया जाता है।

## 2. अभौतिक अशुभ(नैतिक अशुभ) –

इस अशुभ का संबंध केवल मानव जगत से है इसके अंतर्गत ईर्ष्या, द्वेष की भावना, स्वार्थसिद्धि के लिए दूसरों को कष्ट पहुंचाने की इच्छा, लालच वासना इत्यादि दुर्गुणों से प्रेरित होकर किया जाने वाला मानवीय दुराचरण शामिल हैं।

यूं तो यह दोनो अशुभ परस्पर स्वतंत्र प्रतीत होते हैं किन्तु यह कभी कभी एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं।

### अशुभ का स्वरूप –

अशुभ की समस्या के संबंध में विचारण करते हुए दार्शनिकों ने ईश्वर के विरुद्ध गंभीर आपत्तियां उठाईं। इस संबंध में तीन कथनों पर विचार किया जाता है:-

1. संसार में दुःख और मानवीय दुराचरण के रूप में अशुभ का अस्तित्व है।
2. इस संसार का रचयिता सर्वशक्तिमान ईश्वर है।
3. ईश्वर पूर्ण रूप से दयालु और प्रेममय है।

अशुभ की समस्या के विचारण में ईश्वरवादियों से यह प्रश्न पूछा जाता है कि यदि सर्वशक्तिमान प्रेममय ईश्वर है तो अशुभ का अस्तित्व क्यों है इस संबंध में ईश्वरवादियों द्वारा निम्न तर्क दिए जाते हैं –

1. अशुभ का निर्माण ईश्वर ने नहीं किया अपितु यह मनुष्य के अपने पापों का ही दुष्परिणाम है जिनका दण्ड देने के लिए ईश्वर ने इसे उत्पन्न किया है यहां पाप से तात्पर्य ईश्वर के विरुद्ध कार्यों से लिया जाता है।

इस तर्क के विरुद्ध दो आपत्तियां हैं –

- क) यह निर्णय करना असंभव है कि ईश्वर का आदेश क्या है क्योंकि धर्मग्रन्थ विपरीत बातें कहते हैं।
- ख) प्राकृतिक आपदाओं का दण्ड पापी और पुण्य आत्मा सभी को कष्ट देता है।
- ग) यह तर्क बच्चों और पशु-पक्षियों के दुःखों की व्याख्या करने में असफल है।

2. ईश्वरवादी अशुभ को एक चेतावनी के रूप में मानते हैं जिसके जरिए वह रचयिता के महानता और अपारशक्ति को महसूस करता है।

इस तर्क के विरुद्ध आपत्तियां हैं –

- क) अशुभ से उत्पन्न भय श्रद्धा उत्पन्न नहीं करता।
- ख) शक्ति का प्रदर्शन करने वाला निंदनीय माना जाता है तब ईश्वर क्यों नहीं।
- ग) ईश्वर के द्वारा किए गये कार्य कभी-कभी मनुष्य को नैतिक होने की अपेक्षा अनैतिक बनाते हैं।

3. ईश्वरवादियों द्वारा तर्क दिया जाता है कि शुभ को जानने और उसके महत्व के लिए अशुभ अनिवार्य है, दुःख को जानकर ही व्यक्ति सुख का महत्व समझता है। व्यक्ति के जीवन में उत्पन्न दुःख उसे साहस तथा दृढ़ता प्रदान करते हैं जिससे व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति होती है।

यह एक प्रबल तर्क माना जाता है किंतु इसके विरुद्ध आपत्ति है कि-

- क) शुभ की सत्ता अशुभ पर निर्भर है।
- ख) इससे ईश्वर का उत्तरदायित्व कम नहीं हो जाता अर्थात् यह ईश्वर की समस्या कि शुभ का पृथक अनुभव नहीं किया जाता।
- ग) यह प्रमाणित है कि व्यक्ति नकारात्मक अभिप्रेरणा की अपेक्षा सकारात्मक अभिप्रेरणा से अधिक उन्नत होता है।

### कर्मवाद –

- प्रकार – 1. ऐच्छिक – a) काम्य कर्म  
b) निस्काम कर्म  
2. अनैच्छिक

**यदृच्छावाद –** विश्व में होने वाली घटनाएं संयोग का परिणाम हैं। अतः इसके संदर्भ में कर्म की व्याख्या नहीं की जा सकती।

**नियतिवाद –** हर कार्य निश्चित है।

**अदृष्ट या अपूर्व –** अदृष्ट(न्याय) अथवा अपूर्व(मीमांसा) से तात्पर्य उन सूक्ष्म संस्कारों से है जो कर्म से उत्पन्न होते हैं और आत्मा से जुड़े रहते हैं और यह तय करते हैं कि किसी कर्म का फल कब प्राप्त होगा।

### कर्म सिद्धान्त से संबंधित कुछ समस्याएं –

1. कर्म सिद्धान्त की प्रथम समस्या है कि कर्म का वास्तविक कर्ता किसे माना जाए।
2. कर्म सिद्धान्त की व्याख्या में यह समस्या है कि यदि आत्मा तथा शरीर भिन्न हैं तब इन दोनों में पारस्परिक संबंध की व्याख्या कैसे की जाये।
3. कर्म सिद्धान्त की तीसरी समस्या है कि काल की दृष्टि से किसका अस्तित्व पहले है जीव का अथवा कर्म का।

### समस्याएं—

- यदि कर्म जीव से पहले आया तो समस्या है कि क्रिया कर्म जीव के बिना संभव है।
  - यदि जीव कर्म से पूर्व था तो जीवों में असमानताएं क्यों हैं?
  - यदि कर्म और जीव की उत्पत्ति एक साथ हुई है तो यह समस्या उत्पन्न होती है कि विभिन्न शरीरों में पाए जाने वाले भेद किस प्रकार उत्पन्न होने चाहिए।
  - यदि कर्म और जीव में शाश्वत संबंध है तब यह मानना पड़ेगा कि प्रत्येक जीव का एक निश्चित कर्म है।
4. कर्मवाद की एक बड़ी समस्या कर्म फल नियंता की है।

### योग—दर्शन :—

इसका अर्थ उस दर्शन से है जो चित्त की वृत्तियों के निरोध के माध्यम से तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करता है।

### योग—दर्शन की शब्दावली :—

#### 1. चित्त से तात्पर्य मन, बुद्धि और अहंकार के सम्मिलित रूप से है जिसके तीन रूप होते हैं—

- प्रकाशील (जानने की इच्छा)
- प्रवृत्तिशील (करने की इच्छा में रत)
- स्थितिशील (स्थिर अवस्था में)

#### 2. चित्त की भूमि से तात्पर्य उसकी स्वाभाविक अवस्था से है। यह पांच प्रकार की होती है—

- क्षिप्त (रजोगुण का अधिक प्रभाव, अस्थिर)
- मूढ (तमस की अधिकता, less active)
- विक्षिप्त (रजसत्, स्वतः विचलन)
- एकाग्र (सत् की अधिकता, hyper active)
- निरुद्ध (कोई वृत्ति नहीं, समाधि की अवस्था)

योग वह साधन है जिससे चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाता है।

### योग—दर्शन के अंग (साधन)—

- शरीरापेक्षी साधन— वृत्ति, यम, नियम, आसन, प्रणायाम, प्रत्याहार।
- मनसापेक्षी साधन— धारणा, ध्यान, समाधि।

#### 3. वृत्ति — जब चित्त इंद्रियों के माध्यम से बाहर निकलकर विषय का आकार ग्रहण कर लेता है तो उसे वृत्ति कहा जाता है।

चित्त की पांच वृत्तियां होती हैं —

- प्रमाण
- विपर्यय
- विकल्प
- निद्रा
- स्मृति

नोट— प्रवृत्ति व्यक्ति विशिष्ट के कार्य से संबद्ध है।

#### 4. यम— अष्टांग मार्ग में बाह्य और आंतरिक इंद्रिय संयम को यम कहा जाता है यह पांच होते हैं —

- सत्य
- अहिंसा
- अस्तेय
- अपरिग्रह
- ब्रह्मचर्य

#### 5. नियम— यह सदाचार को प्रश्रय देते हैं।

##### प्रकार—

- शौच— (अंदर या बाहर से शरीर की शुद्धि)
- संतोष
- तप (आकस्मिक सुखों का दमन)

विद्या अतुल्य अलंकार

RAJPUT TUTORIALS

d) स्वाध्याय (स्वचिंतन)

e) ईश्वर प्राणिधान (ईश्वर मुझमें और मैं ईश्वर में, यह भाव)

**6. आसन** – आसन का तात्पर्य योग अवस्था में बैठने से लिया जाता है, योग दर्शन में आसन के संबंध में “स्थिरम् सुखम् आसनम्” अर्थात् आसन वह है जिसमें सुखपूर्वक स्थिर रहा जा सकता है इस धारणा के अंतर्गत कई प्रकार के आसन योग दर्शन में बताये गये हैं आसन के अभ्यास से चित्त की एकाग्रता बढ़ती है।

**7. प्राणायाम** – आसन के उपरांत श्वास, प्रश्वास में जो गति विच्छेद किया जाता है, उसे प्रणायाम कहते हैं। वही प्रणायाम योग का भाग होता है जिससे चित्त की एकाग्रता होती है।

प्रणायाम चार प्रकार के होते हैं :-

a) बाह्य वृत्ति रेचक

b) आभ्यान्तर वृत्ति रेचक

c) स्तंभ वृत्ति कुंभक

d) बाह्य आभ्यान्तर विषयापेक्षी कुंभक

**8. प्रत्याहार** – प्रत्याहार इंद्रियों को उनके विषय से असंयुक्त कर चित्त को स्वरूप प्रदान करता है अर्थात् इंद्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर अंतर्मुखी करना ही प्रत्याहार कहलाता है।

प्रत्याहार के दो साधन होते हैं –

1. बाह्य विषयों से ध्यान हटाना।

2. मानस भाव ग्रहण करना।

**9. धारणा**– धारणा का तात्पर्य चित्त को किसी एक विषय पर अथवा देस पर बद्ध करने से है। योग दर्शन में धारणा के दो भेद बताये गये हैं –

a) बाह्य विषय से चित्त का इंद्रिय बद्ध होना।

b) आध्यात्मिक विषय से चित्त का अनुभव द्वारा बद्ध होना।

**10. ध्यान**– ध्यान का गंतव्य धारण किए गए विषय पर चित्त की एकलयता से लिया जाता है ध्यान में चित्त विषय अथवा प्रत्यय में अखण्ड धारा की भांति प्रवाहित होता है।

**11. समाधि**– समाधि योग दर्शन का आठवां अंग है जिसका प्रमुख लक्ष्य मोक्ष या कैवल्य है। योग-दर्शन में सांख्य-दर्शन के विपरित समाधि की अवस्था को आनंद मूलक माना गया है।

योग-दर्शन के अनुसार समाधि की अवस्था में पुरुष की समस्त वृत्तियों का निरोध होने पर वह कैवल्य जो प्राप्त करता है और यही योग कहलाता है।

चित्त के वृत्तियों को निरोध की भूमि पर लाने के लिए आठ योगांग बताये गये हैं जिनमें समाधि आठवां अंग है।

समाधि की अवस्था में व्यक्ति निर्भास, स्वरूप ध्येयाकार, शून्य के समान अवस्थित हो जाता है अर्थात् व्यक्ति का अस्तित्व ध्येय विषय में विलीन हो जाता है, इस अवस्था में ध्याता-ध्यान-ध्येय की त्रिपुटि समाप्त हो जाती है, ध्याता को यह भाव नहीं रहता कि “मैं” ध्यान कर रहा हूँ, यही अवस्था समाधि कहलाती है।

इस अवस्था में आत्मचेतना लुप्त हो जाती है तथा आत्म साक्षात्कार प्राप्त होता है।

**योग-दर्शन में समाधि के दो भेद बताये गये हैं –**

1. संप्रज्ञात समाधि– संप्रज्ञात समाधि को सबीज समाधि भी कहा जाता है क्योंकि इसके अंतर्गत अभीष्ट विषय पर चित्त को स्थिर रखा जाता है तथा उस विषयध्वालंबन में निर्भास होकर समाधि की अवस्था को प्राप्त करते हैं।

**सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद –**

a) सवितर्क

b) सविचार

c) सआनंद

d) सास्मित

**a) सवितर्क**– इस अवस्था में स्थूल विषय पर ध्यान केंद्रित किया जाता है यहां स्थूल विषय से तात्पर्य नासिका का अग्र भाग, चंद्रमा, पेन की नोक इत्यादि विषयों पर ध्यान केंद्रित करने से होता है।

सवितर्क समाधि के दो भेद होते हैं –

- क) वितर्कानुगत
- ख) निवितर्कानुगत

**b) सविचार**— इस अवस्था में स्थूल भूतों के कारण पंच तनमात्रा आदि सूक्ष्म विषयों पर ध्यान केंद्रित किया जाता है।

- प्रकार** – क)विचारानुगत  
ख)निर्विचारानुगत

**c) सआनंद**— इसके अंतर्गत सूक्ष्म एवं स्थूल विषयों से ध्यान हटाकर इंद्रियों पर ध्यान को एकाग्र किया जाता है चूंकि इंद्रियां अनुभव प्रदान करती हैं और इंद्रियों से प्राप्त अनुभव आनंदमूलक होते हैं इसीलिए समाधि की इस अवस्था को सआनंद समाधि कहा जाता है।

**d) सास्मित**— यह समाधि की अंतिम तथा पूर्ण अवस्था होती है जिसमें न तो स्थूल विषय ध्यान का आलंबन होते हैं और न ही सूक्ष्म विषय या इंद्रियों का सहारा लिया जाता है। अपितु अहंकार को ध्यान का विषय बनाया जाता है इसीलिए इसे सास्मित समाधि कहा जाता है।

**2. असंप्रज्ञात** – इसे निरालंबन समाधि भी कहते हैं समाधि के स्वरूप में साधक को समस्त आंतरिक तथा बाह्य विषयों का ज्ञान हो जाता है तथा वह बिना किसी विषय से चित्त का संबंध रखते हुए ध्यानस्थ होता है। समाधि की इस अवस्था में चित्त किसी भी विषय से संलिप्त नहीं रहता अर्थात् चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है और साधक को आनंद प्राप्त होता है चूंकि इस अवस्था में कोई विषयध्वंज शेष नहीं रहता इसीलिए इसे निर्बीज या निर्विशेष समाधि भी कहते हैं।

**असंप्रज्ञात समाधि की दो अवस्थाएं होती हैं जिन्हें प्रत्ययों में व्यक्त किया जाता है—**

- a) भव प्रत्यय –जब समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाए और चित्त अविद्या में लीन हो जाए तो उसे भव प्रत्यय कहते हैं।
- b) उपाय प्रत्यय –जब प्रज्ञा का उदय हो तथा समस्त अविद्या का नाश हो जाए और वृत्तियां भी शेष ना रहे तो उसे उपाय प्रत्यय कहते हैं। इसके पश्चात् जब संस्कारों का भी लय हो जाता है तो उसे कैवल्य की अवस्था कहते हैं।

**योग—दर्शन की व्यवहारिकता—**

योग—दर्शन यूं तो मोक्ष का मार्ग माना जाता है अर्थात् आध्यात्मिक बाधाओं से मुक्ति का मार्ग। भारतीय दर्शन की मान्यता है कि आध्यात्मिक पवित्रता के लिए पूर्ण शारीरिक स्वस्थता और पवित्रता आवश्यक होती है। इस दृष्टि से योग—दर्शन में प्रयुक्त साधन अष्टांगिक मार्ग दैनिक जीवन के लिए भी उपयोगी हैं—

1. अष्टांग योग में प्रथम अंग यह निषेधकारी नियम कहलाते हैं अर्थात् जिनके व्यवहार से मन और शरीर को विभिन्न विषयों में जाने से रोका जाता है। जिनमें सत्य हमारे जीवन में संदेह, अविश्वास तथा भ्रम जैसे विचारों को दूर करता है वहीं इससे समय की बचत भी होती है जिससे न केवल सामाजिक विश्वास कायम रहता है अपितु अन्य लाभ भी होते हैं।
2. अहिंसा जैसे साधन की प्रासंगिकता सदैव रहती है और वर्तमान की आतंकवाद, नक्सलवाद और माओवाद जैसे विप्लवकारी माहौल में यह और भी महत्वपूर्ण हो जाता है।
3. अस्तेय और अपरिग्रह जैसे साधन व्यक्तिगत दृष्टि से तो महत्वपूर्ण हैं ही साथ ही करचोरी, कालाबाजारी और जमाखोरी जैसी राष्ट्रीय समस्याओं के लिए भी महत्वपूर्ण है।
4. अष्टांग योग के दूसरे अंग 'नियम' प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वास्थ्य, आर्थिक, शैक्षिक एवं सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।
5. अष्टांगिक मार्ग में किए जाने वाले आसन विभिन्न शारीरिक रोगों को दूर करने तथा शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के लिए महत्वपूर्ण है।
6. ब्रह्मचर्य जैसी अवधारणाओं से विश्व में फैल रही विभिन्न यौनजनित बीमारियों को रोकने में मदद मिलती है।
7. एक्रागता— ध्यान के लिए आवश्यक है।
8. प्राणायाम— श्वास—प्रश्वास की बीमारियों को दूर करने के लिए आवश्यक है।

**योगी की तीन अवस्थाएं :-**

- a) योगारूढ़ –जो योग पर पहले से आरूढ़ हो।
- b) आरूढ़ –अचानक से योग की तरफ आकृष्ट हो।
- c) युञ्जान –इस जन्म में योग का ज्ञान प्राप्त हो।

**आठ सिद्धियां—**

- a) अणिमा—अणु मात्र को जानना
- b) लघिमा—लघु रूप में हो जाना
- c) महिमा—बड़े अणु के रूप में हो जाना

- d) प्राप्ति-प्राप्त करना
- e) प्राकाम्य-किसी के लिए इच्छित हो जाना
- f) ईशत्व-किसी के लिए ईश्वर हो जाना
- g) वशित्व-वश में करना
- h) यथाकामावसायित्व-सातों शामिल

### वैराग्य: -

- प्रकार- a) पर वैराग्य  
b) अपर वैराग्य

### कर्मफल:-

- प्रकार - a) दृष्टजन्मवेदनीय  
b) अदृष्टजन्मवेदनीय

### ऐश (अइश का नियम):-

ईश्वर द्वारा प्रतिपादित वह नियम जिसमें ईश्वर ने पहले यह निर्धारित कर लिया है कि अमुक व्यक्ति भविष्य में विवेक(ज्ञान) प्राप्त करेगा।

**प्रणव:-** यह ईश्वरवाचक शब्द है जिसका ध्यान करने से चित्त स्थिर होता है।

**धार्मिक सहिष्णुता** - धार्मिक सहिष्णुता का विषय विभिन्न दृष्टिकोणों से अलग-अलग रूप में व्याख्यायित होता है जिसके संबंध में विभिन्न विचारक संकीर्ण और व्यापक भाव को लक्षित कर प्रस्तुत करते हैं।

धार्मिक सहिष्णुता में सहिष्णुता का मंतव्य साधारण शब्दों में सहने से लगाया जाता है इस अर्थ में यह भाव छुपा हुआ है कि वह विषय या वस्तु हमारे लिए सुख का विषय नहीं है और साथ ही हम उसे पसंद नहीं करते हैं किन्तु आदर्श रूप में सहिष्णुता का अर्थ सकारात्मक रूप में लिया जाता है।

धार्मिक सहिष्णुता का तात्पर्य उस स्थिति से है जब विभिन्न धर्मों अथवा एक ही धर्म के अलग-अलग संप्रदायों के अनुयायी परस्पर मिलकर शांतिपूर्वक रहते हों तथा एक दूसरे के धार्मिक विचारों, सिद्धांतों, विश्वासों तथा अनुष्ठानों के महत्व को स्वीकार करते हुए पारस्परिक विरोध या शत्रुता की भावना नहीं रखते। इसी उदार मनोवृत्ति को धार्मिक सहिष्णुता की संज्ञा दी जाती है।

### धार्मिक सहिष्णुता के लिए यह आवश्यक है कि -

- a) उस स्थान पर अलग-अलग संप्रदाय के लोग रहते हों।
- b) धार्मिक विचार तथा अनुष्ठान भिन्न-भिन्न हों।
- c) इन आधारों पर न ही किसी को शारीरिक चोट पहुंचाना न ही संघर्ष करना।

### धार्मिक सहिष्णुता और सर्वधर्मसंभाव में अंतर:-

धार्मिक सहिष्णुता सर्वधर्मसंभाव की गांधीजी की अवधारणा से भिन्न है गांधीजी जब सर्वधर्मसंभाव को अपने अनुयायियों को समझाते हैं तो कहते हैं कि उन्हें दूसरे के धर्म का आदर करना चाहिए तथा परस्पर स्नेह और सौहार्द्र की भावना रखनी चाहिए जिसमें यह निहित होता है कि दूसरे का धर्म आपके व्यक्तिगत धर्म के समान ही मूल्यवान तथा समआदरणीय है। जबकि धार्मिक सहिष्णुता रखने वाला व्यक्ति अन्य धर्म को सहन करता है, थोड़ा बहुत महत्व भी देता है किन्तु अपने धर्म के समान महत्व नहीं देता।

### समाज में धार्मिक असहिष्णुता की उत्पत्ति के कारण-

1. धार्मिक सहिष्णुता का प्रमुख कारण स्वयं मनुष्य में निहित है, मनुष्य में स्वयं को तथा स्वयं से जुड़ी वस्तु को महान समझने की स्वाभाविक मनोवृत्ति होती है जिसके चलते वह अपनी वस्तु को और विचारों को और अधिक श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण मानता है यह मनोवैज्ञानिक नियम धर्म के संबंध में भी लागू होता है। अतः ऐसी स्थिति में जब धर्म के प्रति संवेदनशीलता एक सीमा से अधिक हो जाती है तो धार्मिक सहिष्णुता जन्म लेती है।
2. अधिकतर धार्मिक परिवारों में धर्म के मूल मंतव्य को न बताते हुए गलत धार्मिक शिक्षा दी जाती है। उन्हें बताया जाता है कि उनका धर्म श्रेष्ठ है और अन्य सब धर्म मिथ्या जिसके चलते बच्चों में अनुदारता जन्म लेती है।
3. लगभग सभी धर्मपरायण परिवार अपने बच्चों को अपने ही धर्म की शिक्षा तक सीमित रखते हैं अन्य धर्मों को जानने का अवसर नहीं दिया जाता अतः इस स्थिति में अन्य धर्मों के विषय में व्यक्ति की अनभिज्ञता उनके प्रति असहिष्णुता को जन्म देती है।
4. प्रायः देखा गया है विभिन्न धर्मावलम्बियों के सामाजिक व्यवहार पृथकता को लिए होते हैं अर्थात् उनमें सामाजिक मेलजोल नहीं होता।



## धार्मिक सहिष्णुता की आवश्यकता निम्न कारणों से है:-

1. विश्व के लगभग सभी देशों में अलग-अलग मतों का अवलम्बन करने वाले अनुयायी निवास करते हैं तथा उनके विचारों के साथ उनके कर्मकांड भी भिन्न होते हैं जिससे असहिष्णुता के खतरे उत्पन्न होते हैं अतः सभी निवासियों के शांति और सौहार्द्रपूर्ण तरीके से रहने के लिए यह आवश्यक है कि उस राष्ट्र में धार्मिक सहिष्णुता बनी रहे।
2. समाज में धार्मिक असहिष्णुता की उपस्थिति निष्पक्ष चिंतन, नवीन खोज, नवाचार तथा वैज्ञानिक अनुसंधानों में रुकावट उत्पन्न करती है अतः इस दृष्टि से भी आवश्यक है कि धार्मिक सहिष्णुता उस समाज में बनी रहे।
3. धार्मिक सहिष्णुता की उपस्थिति उस समाज में लोकतांत्रिक व्यवहारों के लिए भी आवश्यक मानी जाती है।
4. धार्मिक असहिष्णुता किसी राष्ट्र में आर्थिक व्यवहारों में बाधा उत्पन्न करती है जिसके चलते उस राष्ट्र की आर्थिक उन्नति कमजोर पड़ जाती है। अतः आर्थिक विकास की दृष्टि से भी धार्मिक सहिष्णुता आवश्यक है।
5. किसी राष्ट्र में राजनीतिक अधिकारों के सम्यक् व्यवहार के लिए जरूरी है कि राष्ट्रीय वातावरण स्वस्थ हो इसके लिए आवश्यक है धार्मिक कट्टरता और उन्माद की परिस्थितियां जन्म न लें इसलिए धार्मिक सहिष्णुता जरूरी है।

## धार्मिक सहिष्णुता स्थापित करने के उपाय :-

1. इस मनोवैज्ञानिक धारणा को तोड़ना कि मैं श्रेष्ठ हूँ इसके लिए जरूरी है कि बचपन से ही सहअस्तित्व की भावना परोई जाए।
2. परिवारों को चाहिए कि यह शिक्षा देना बंद करें कि उनका धर्म श्रेष्ठ है और अन्य धर्म मिथ्या और साथ ही यह कि 'हमारे' साथ भेदभाव किया जा रहा है।
3. सभी स्कूलों, शिक्षण संस्थानों, सार्वजनिक संस्थानों विभिन्न नाट्य मंडलियों एवं अन्य प्रसार माध्यमों से सभी धर्मों की शिक्षा देना सुनिश्चित किया जाए।
4. व्यक्तिगत, समाजिक तथा शासकीय स्तर पर सभी त्योहारों जो कि विभिन्न धर्मों के हों को मनाने के लिए प्रोत्साहन दिया जाये जिससे पारस्परिक सामाजिक मेल-जोल बढ़ती है।
5. विभिन्न संस्थानों में यह सुनिश्चित किया जाये कि अलग-अलग धर्मों के अनुयायी परस्पर साथ-साथ शिक्षा लें अथवा कार्य करें।

**धर्मनिरपेक्षता** — धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा का जन्म यूरोप में हुआ जहां पोप की सत्ता के विरुद्ध राजसत्ता द्वारा चुनौती के रूप में व्याख्यायित किया गया। धर्मनिरपेक्षता के समर्थकों का मानना है कि धर्म शब्द का प्रयोग सामान्यतः मजहब के रूप में किया जाता है। मनुष्य के लिए श्रेयस्कर है कि वह इस प्रचलित अर्थ में धर्म का परित्याग करते हुए अथवा कम से कम तटस्थ या उदासीन रहते हुए जीवन व्यतीत करे क्योंकि अलौकिक सत्ता के प्रति धारणा या विश्वास जो कि धर्म का मूल आधार है को धारण करने से वह लौकिक जीवन के प्रति उदासीन हो जाता है।

### इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त इहलोकवाद सिद्धान्त पर आधारित है।

धर्मनिरपेक्षता की विचारधारा का जन्म पुनर्जागरण युग के बाद तर्क और स्वतंत्र चिंतन पर बल देने के फलस्वरूप हुआ। 18-19वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में जैकब हेलियो द्वारा इस अवधारणा का दार्शनिक प्रतिपादन किया गया जिसके पश्चात् यह विचारधारा तेजी से लोकप्रिय हुई।

धर्मनिरपेक्षता से तात्पर्य उस विचारधारा से है जो धर्म को व्यक्तिगत जीवन का विषय मानती है, किसी अलौकिक अथवा अतिप्राकृतिक सत्ता में विश्वास का निषेध करती है और लौकिक जीवन को सुखमय और सार्थक बनाना व्यक्ति का कर्तव्य मानती है।

धर्मनिरपेक्षता को सामान्यतः एक नकारात्मक अर्थ के रूप में देखा जा सकता है किन्तु इसका सकारात्मक पक्ष भी है जिसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

### इसकी आवश्यकता को इन संदर्भों में देखा जा सकता है-

1. धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त मनुष्य जीवन में न केवल धर्म का निषेध करता है अपितु बौद्धिक तथा वैज्ञानिक उपायों द्वारा व्यापक अर्थ में मानव कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त करता है।
2. यह जीवन में प्रत्येक समस्या पर तर्कसंगत रूप से विचार करने के लिए प्रेरित करता है और समुचित समाधान खोजने के लिए भी प्रेरणा देता है।
3. यह मनुष्य के स्वतंत्र बौद्धिक चिंतन तथा निष्पक्ष विवेचन को महत्व देता है जिसके चलते वैज्ञानिक विवेचन का मार्ग प्रशस्त होता है।
4. धर्मनिरपेक्षता इहलोकवादी सिद्धान्त होने के कारण इसी लोक की समस्याओं पर केंद्रित रहते हैं तथा मनुष्य को और उसके कल्याण को चिंतन का प्रमुख विषय मानने के कारण मानवतावाद की स्थापना करता है।
5. धर्मनिरपेक्षता का सकारात्मक पक्ष यह भी है कि वह नैतिकता को व्यक्तिगत एवं सामूहिक कर्तव्य मानते हैं तथा नैतिकता को लागू करने पर विशेष बल देते हैं।
6. धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि अलौकिक सत्ता में विश्वास न रखने के कारण यह अंधविश्वासों का भी निषेध करता है।

## लक्षण—

- मानवतावादी दर्शन।
- धर्म तथा आध्यात्म को शिक्षा, राजनीति, सामाजिक व्यवहार, नैतिकता से पृथक रखना।
- पारलौकिक सत्ता का निषेध।
- स्वयं में विश्वास।
- सुखमय तथा सार्थक बनाना।

**सर्वधर्मसंभाव** — यह अवधारणा इस दार्शनिक पक्ष पर आधारित है कि सभी धर्मों में एक समान मूलतत्त्व विद्यमान है जिस पर प्रत्येक धर्म का अवलम्बन होता है यदि ऐसे तत्त्व खोजे जा सकें तो सैद्धान्तिक दृष्टि से सभी धर्मों में समन्वय की संभावना हो सकती है जो व्यवहारिक जीवन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सर्वधर्मसंभाव का एक मंतव्य यह भी है कि संसार में किसी भी धर्म को उत्कृष्ट या निकृष्ट को प्रमाणित करना ना तो वांछनीय है न ही संभव है अतः सर्वधर्मसंभाव सभी धर्मों के प्रति समान रूप से श्रद्धा और महत्व देने की बात करता है।

गांधीजी के शब्दों में कहें तो सर्वधर्मसंभाव से तात्पर्य है कि 'मेरा अपना विचार यह है कि सभी महान धर्म मूलतः समान हैं हमें दूसरे धर्मों का उसी प्रकार आदर करना चाहिए जैसे अपने धर्म का करते हैं।

सर्वधर्मसंभाव के विषय में यद्यह स्पष्ट है कि यह सभी धर्मों के मूल तत्वों को एक सा मानता है किन्तु उन्हें मिलाकर न तो एक विश्व धर्म बनाने की बात करता है न ही किसी विशेष धर्म को सार्वभौम मान लेता है।

## सर्वधर्मसंभाव का महत्व—

- यह विचारधारा धार्मिक कट्टरतावाद को नियंत्रित करने में पूर्णतः सक्षम है क्योंकि यह सभी धर्मों को समान मानते हैं और किसी को भी हेय दृष्टि से नहीं देखते।
- यह विचारधारा स्वयं में लोकतांत्रिक है अर्थात् निज धर्म की महत्ता के साथ परधर्म का सम्मान भी महत्वपूर्ण मानती है।
- चूंकि इस विचारधारा में प्रत्येक धर्म का न केवल सम्मान होता है अपितु हर धर्म के नैतिक ज्ञान को अपनाने पर जोर दिया जाता है जिससे व्यक्ति का दृष्टिकोण विस्तृत होता है तथा उसके व्यक्तित्व का भी विस्तार होता है।
- सर्वधर्मसंभाव चूंकि सभी धर्मों के प्रति उदार भाव रखने के लिए प्रेरित करता है अतः धर्म परिवर्तन जैसे संवेदनशील मुद्दों पर सांप्रदायिक समस्याओं को उठने से रोकता है।
- सर्वधर्मसंभाव इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि यह स्वतः ही किसी राष्ट्र में पंथनिरपेक्षता का मार्ग प्रशस्त करता है।

इस प्रकार सर्वधर्मसंभाव धार्मिक सहिष्णुता के साथ-साथ शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की भी गारंटी देता है।

## सर्वधर्मसंभाव स्थापित करने के उपाय—

- इस मनोवैज्ञानिक धारणा को तोड़ना कि मैं श्रेष्ठ हूं इसके लिए जरूरी है कि बचपन से ही सहअस्तित्व की भावना परोई जाए।
- परिवारों को चाहिए कि यह शिक्षा देना बंद करें कि उनका धर्म श्रेष्ठ है और अन्य धर्म मिथ्या और साथ ही यह कि 'हमारे' साथ भेदभाव किया जा रहा है।
- सभी स्कूलों, शिक्षण संस्थानों, सार्वजनिक संस्थानों विभिन्न नाट्य मंडलियों एवं अन्य प्रसार माध्यमों से सभी धर्मों की शिक्षा देना सुनिश्चित किया जाए।
- व्यक्तिगत, सामाजिक तथा शासकीय स्तर पर सभी त्योहारों जो कि विभिन्न धर्मों के हों को मनाने के लिए प्रोत्साहन दिया जाये जिससे पारस्परिक सामाजिक मेल-जोल बढ़ती है।
- विभिन्न संस्थानों में यह सुनिश्चित किया जाये कि अलग-अलग धर्मों के अनुयायी परस्पर साथ-साथ शिक्षा लें अथवा कार्य करें।